Shodh Sangam Patrika
E-ISSN: 3049-0707, Volume 2 | Issue 4 | (Oct – Dec 2025)

वैदिक कालीन भारत में शिक्षण पद्धति

जैमिनी खानवे
इंदिरा प्रियदर्शिनी महाविद्यालय, छिन्दवाड़ा (म.प्र.)

सारांश

प्राचीन भारतीय इतिहास में शिक्षा का स्वर्णिम इतिहास रहा है। वैदिक काल में शिक्षा की आदर्श व्यवस्था रही है। वैदिक काल की शिक्षण पद्धति में वेद अध्ययन के साथ ही कौशल आधारित शिक्षा पर भी बल दिया गया है। प्राचीन भारतीय शिक्षण संस्थाएँ, शिष्य के स्वभाव, शील व चरित्र पर विशेष ध्यान देती थीं। प्राचीन भारतीय शिक्षा की भाषा संस्कृत थी। इतिहासकारों का मानना है कि यह लगभग 3500 वर्ष पुरानी है। बटु को स्नातक होने की प्रक्रिया के दौरान विभिन्न वेदों के मंत्र, सूक्त को स्मृति-बद्ध कर हविर्भाग करना, बाह्य स्वरूप के साथ अंतःकरण की शुद्धि प्रक्रिया के प्रमुख घटक थे। शिक्षण व्यवस्था आदर्श नियम-पालन व्यवस्था पर आधारित थी। परिणामस्वरूप नैतिक रूप से उत्कृष्ट शिक्षा, ज्ञान-विवेक से परिपूर्ण व्यक्तित्व का निर्माण करती थी, जो एक सबल-समृद्ध राष्ट्र निर्माण का प्रमुख अवयव बन जाता था। आदर्श समाज की स्थापना के लिए आदर्श व्यक्तित्व का निर्माण वैदिक कालीन शिक्षा का आधार स्तंभ था। सदाचार और नैतिक मूल्यों पर अधिक बल दिए जाने के कारण वैदिक कालीन शिक्षा प्रभावोत्पादक थी।

मूल शब्दः वैदिक शिक्षा, भारत, वैदिक संस्कार, प्राचीन शिक्षण पद्धति।

शोध प्रविधि

प्रस्तुत शोध-पत्र में द्वितीयक स्रोत का उपयोग किया गया है। प्राचीन भारत में शिक्षण हेतु संस्कारों की भूमिका एवं शिक्षण पद्धति को विभिन्न प्रमाणिक ग्रन्थों के संस्कृत उद्धरणों के माध्यम से रखने का प्रयास किया गया है, जो वर्तमान में प्रायः विस्मरणीय है। यह शोध ऐतिहासिक ग्रन्थों पर आधारित है, अतः अध्ययन में ऐतिहासिक विधि एवं समीक्षात्मक विधि का प्रयोग किया गया है।

शोध परिसीमनः प्रस्तुत शोध अध्ययन, प्राचीन भारत में शिक्षण हेतु प्रदत्त वैदिक संस्कारों के अध्ययन-विश्लेषण व उनकी उपादेयता तक सीमित है।

प्रस्तावना

हम भारत के लोग जिस भारतीय राष्ट्र के घटक हैं, वह अमर राष्ट्र के रूप में जगत के देशों की श्रेणी में अपनी विशिष्टता से दैदीप्यमान रहा है। अगर हम काल-गणना में न जाकर वेदों का सूत्र देखें तो यह अनादि के रूप में ही दृष्टिगोचर होता है, और इस वेद-रूपी मंदिर में दर्शन करते ही भारतीय राष्ट्र की जीवन-शैली अथवा जीवन-वाद से भारतीय हृदय गौरव के क्षणों को प्राप्त करता है, जो कदाचित अन्य को अकल्पनीय प्रतीत हो सकता है।

वैदिक कालीन भारत राष्ट्र के उदय के साथ ही लगभग 14वीं शताब्दी तक भारत राष्ट्र का अप्रतिम गौरव, समृद्धता, प्रबुद्धता, शौर्य, चारित्रिक-शीलता आदि का गौरवशाली इतिहास विश्व के अन्य राष्ट्रों की तुलना में अत्यंत शीर्ष पर देखा जा सकता है। वेदों के आधार पर वैदिक कालीन भारतीय राष्ट्र की चारित्रिक विशेषता, समकालीन राष्ट्रों से स्वयं को भिन्न स्थान पर स्थापित करती थी। मेगस्थनीज और विदेशों से आए अन्य प्रतिनिधियों ने वैदिक कालीन भारतीय जीवन और भारतीय राष्ट्र का जो स्वभाव, स्वरूप व शील का सामाजिक, आर्थिक व राजनीतिक चित्रण प्रस्तुत किया

है तथा श्रेष्ठ विचार की जो आकांक्षाएँ भारत में प्रस्तुत की हैं, वह वैदिक विचार व वैदिक मार्ग के कारण संभव हो सका। वैदिक कालीन भारतीय राष्ट्र का आदर्श सामाजिक एवं व्यक्तिगत जीवन, चारित्रिक-सम्पन्नता का गठन वेदों के कारण संभव हुआ। भारत में पाण्डित्य, शौर्य, सम्पत्ति आदि बातों की अपेक्षा शील को अधिक महत्त्व दिया जाता था, जिसका उद्गम वैदिक कालीन शिक्षण रहा है। मनु ने कहा है–

सावित्रोमात्रसारोऽपि वरं प्रियः सुयन्त्रितः।

नायन्त्रितस्त्रिवेदोऽपि सर्वाशी सर्वविक्रयी॥[1]

मनु ने तो अंत में यह भी कहा है कि शीलभ्रष्ट मनुष्य को वेद-अध्ययन का अधिकार नहीं है। इस प्रकार के चारित्रिक-सम्पन्न राष्ट्र के निर्माण के लिए आवश्यक है कि उस राष्ट्र पर श्रेष्ठ जीवन का संस्कार किया जाए। भारतीय वैदिक कालीन परम्परा में भारतीय जीवन को श्रेष्ठ संस्कार प्रदान करने वाली शिक्षण-व्यवस्था को निम्न चार आश्रमों- ब्रह्मचर्य आश्रम, गृहस्थ आश्रम, वानप्रस्थ आश्रम, संन्यास आश्रम में से पहले स्थान पर रखा।

शिक्षण प्राप्त करने के काल को ब्रह्मचर्य आश्रम कहा जाता है, जिसमें विद्यार्थी में शील-संवर्धन, उत्तम गुणों का विकास, व्यक्तित्व का विकास, कर्तव्य-भावना का विकास, संस्कृति का संरक्षण गुरु का लक्ष्य होता था। यह प्राचीन शिक्षण पद्धति अथवा वैदिक शिक्षण पद्धति का मूल लक्ष्य था। अन्य देशों की शिक्षण पद्धति में केवल व्यावहारिक एवं विद्यार्थी के बाह्य स्वरूप के विकास पर बल दिया जाता है, वहीं भारतीय वैदिक कालीन शिक्षण पद्धति में बाह्य स्वरूप के साथ ही अतीन्द्रिय दृष्टि, जिसे हम सूक्ष्म रूप में धर्म कह सकते हैं, के विकास पर अधिकाधिक प्रयास किया गया है। शिक्षण पद्धति की इसी भिन्नता के कारण भारत उक्त काल में विश्व के शीर्ष स्थान पर स्थापित था। वैदिक कालीन शिक्षण पद्धति का विवेचन हम निम्न चरणों में कर सकते हैं–

1. दीक्षाग्रहण संस्कार
2. उपनयन संस्कार – (अ) अश्मारोहण संस्कार, (ब) मेघाजनन संस्कार
3. उपाक्रम संस्कार
4. उत्सर्जन संस्कार
5. समावर्तन संस्कार – (अ) दीक्षान्त उपदेश

ब्रह्मचर्य दीक्षाग्रहण संस्कार– ब्रह्मचर्य आश्रम का अर्थ है कि शिक्षा ग्रहण के काल में सभी दृष्टि से पवित्र रहते हुए, गुरु के संरक्षण में ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करते हुए, शिक्षा ग्रहण करना। ब्रह्मचर्य व्रत का असीम और सुंदर वर्णन अथर्ववेद के काण्ड 11 के सूक्त 1 से लेकर 3 सूक्तों में किया गया है, जिसके कुछ अंश निम्न हैं–

ब्रह्मचारीष्णंष्चरति रोदसी उभे तस्मिन् देवाः संमनसो भवन्ति।

स दाधार पृथिवीं दिवं च स आचार्य तपसा पिपर्ति।। 1।।

तानि कल्पद् ब्रह्मचारी सलिलस्य पृष्ठे तपोतिष्ठत् तप्यमानः समुद्रे।

स स्नातो बभ्रुः पिंग्लः पृथिव्यां बहु रोचते।। 26।। [2]

दीक्षाग्रहण संस्कार में सर्वप्रथम बटुक के द्वारा समिधा से अग्नि में हवन कराया जाता था, यह प्रार्थना करवाई जाती थी–

आग्नये समिधमाहार्ष बृहते जातवेदसे।

यथा त्वमग्ने समिधा समिध्यसे एवमहमायुषा मेधया वर्चसा पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेन समिन्धे जीवपुत्रो ममाचार्यो

मेधाव्यहमसान्यनिराकरिष्णुर्यशस्वी तेजस्वी ब्रह्मवर्चस्यन्नादो भूयासमस्वाहा।। [3]

इस मंत्र का प्रतिदिन प्रातःकाल व संध्याकाल उच्चारण करने से विद्यार्थी का अंतःकरण श्रद्धाशील, निष्पाप व पवित्र होता था। फलस्वरूप यह चारित्र्य-सम्पन्न राष्ट्र की नींव निर्माण में सहायक होता था।

"देव सवितः एष ते ब्रह्मचारी समामृत" [4] से विद्यार्थी में आत्मविश्वास जाग्रत कर जीवन को राष्ट्र, समाज व धर्म के साथ एकीकृत किया जाता था।

अश्मारोहण संस्कार– उक्त ब्रह्मचर्य दीक्षा के पश्चात अश्मारोहण की विधि सम्पन्न की जाती थी। गुरु, शिष्य को पत्थर के ऊपर खड़ा करके उससे कहता था कि तू शरीर व संकल्प में इस पाषाण के जैसा मजबूत व दृढ़ बन। उक्त विधि-प्रक्रिया को पूर्ण करने के उपरान्त वेद-विद्या का कार्य प्रारम्भ किया जाता था।

उपनयन संस्कार– दीक्षाग्रहण संस्कार के पश्चात उपनयन संस्कार किया जाता था। वैदिक साहित्य में अग्नि व सूर्य वैदिक काल के श्रेष्ठ देवता माने गए हैं।

"तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात्" [5]

इस मंत्र से सूर्य की उपासना की जाती थी। भाव यह है कि सूर्य के जिस तेज से सृष्टि को जीवन-रस एवं तेज की प्राप्ति होती है, वैसी ही हमारी बुद्धि को प्राप्त हो। जो तेज प्रकाश हमें प्राप्त हो रहा है, वह धर्मरूप ही हो। उपनयन संस्कार हेतु वर्णानुसार न्यूनतम आयु 5 वर्ष एवं अधिकतम आयु 24 वर्ष का उल्लेख मनुस्मृति में प्राप्त होता है–

आषोडशाद्ब्राह्मणस्य सावित्री नातिवर्तते।

आद्वाविंशात्क्षत्रबन्धोरा चतुर्विंशतेर्विशः।। [6]

गायत्री मंत्र की दीक्षा उपरांत ब्रह्मचारी के हाथ में प्रतीक स्वरूप दण्ड दिया जाता था। दण्ड की लंबाई ब्राह्मण के लिये पैर से शिखा तक, क्षत्रिय के लिये कपाल तक और वैश्य के लिये नाक तक होना चाहिए, इसका उल्लेख है–

केशान्तिको ब्राह्मणस्य दण्डः कार्यः प्रमाणतः।

ललाटसंमितो राज्ञः स्यात्तु नासान्तिको विशः।। [7]

दण्ड देने का भाव यह था कि वह ज्ञान-सम्पदा के मार्ग का यात्री रहे। यह दण्ड उक्त भाव को विस्मृत नहीं होने देता था। यज्ञोपवीत हो जाने पर ही बटुक का विद्या-आरम्भ किया जाता था–

"कृतोपनयनस्यास्य व्रतादेशनमीयते" [8]

मेधाजनन संस्कार– दण्ड-धारण के पश्चात ब्रह्मचारी को भिक्षा के लिए निकलना पड़ता था। प्रथम दिवस माँ, मौसी, बहन अथवा निकटतम सम्बन्धी से भिक्षा ग्रहण करनी पड़ती थी। भिक्षा ग्रहण करने हेतु उल्लेखित किया गया है कि–

मातरं वा स्वसारं वा मातुर्वा भगिनीं निजम्।

भिक्षेत भिक्षां प्रथमं या चैनं नावमानयेत्।। [9]

अर्थात उपवीत ब्राह्मण भिक्षा मांगते समय पहले 'भवत्' शब्द का प्रयोग करे (जैसे– भवति भिक्षां मे देहि), क्षत्रिय मध्य में (जैसे– भिक्षां भवति मे देहि) और वैश्य अंत में 'भवत्' शब्द का प्रयोग करे (जैसे– भिक्षां देहि मे भवति)। भाव यह है कि ब्रह्मचारी बटुक के भिक्षा प्राप्त करने हेतु बोले जाने वाले वाक्य से ही भिक्षा देने वाले को उसके वर्ण का स्मरण हो आए। तृतीय दिवस ब्रह्मचारी की बुद्धि को मेधाशक्ति-सम्पन्न बनाने हेतु मेधाजनन संस्कार किया जाता था।

इस प्रकार मेधाजनन संस्कार के पूर्ण हो जाने पर उपनयन संस्कार समाप्त हो जाता था। इन सूक्ष्म विधियों से विद्यार्थी स्वावलम्बन, स्वाभिमान, संयमपूर्ण जीवन से बाह्य परिवेश में परिवर्तन के साथ-साथ आंतरिक परिवेश में भी परिवर्तन कर पाता था तथा विद्यार्थी को यह अनुभव होता था कि शिक्षा ग्रहण करने का कार्य कष्टसाध्य होने के बावजूद भी जीवन का स्वर्णिम व उत्कृष्ट काल है। इस उपनयन की प्रक्रिया के पूर्ण होने तक गुरु भी शिष्य के गुण-दोषों से अवगत हो जाते थे तथा गुरु यह ध्यान रखता था कि अधिकारी शिष्य को उसकी मनचाही विद्या प्राप्त हो और अनाधिकारी को मनचाही विद्या प्राप्त न हो।

उपाकर्म संस्कार– इसे श्रावणी भी कहते हैं। उपनयन संस्कार के पश्चात वेदों का अध्ययन करने के पूर्व यह संस्कार किया जाता था। उपाकर्म का अर्थ मात्र जनेऊ परिवर्तन नहीं था और न ही 'जनेऊ' केवल गुरु-शिष्य सम्बन्ध तक सीमित था, अपितु उपाकर्म संस्कार गृहस्थ के लिये भी था, अतः प्रतीक स्वरूप गृहस्थ को भी जनेऊ धारण कराया जाता था। परिणामस्वरूप स्नातक होने के उपरान्त शिष्य को पूर्व में गुरु द्वारा प्रदत्त शिक्षा गृहस्थ धर्म में भी स्मृति में रहती थी।

वैदिक काल में अध्ययन केवल विद्यार्थी के लिये ही आवश्यक नहीं था, अपितु गृहस्थ में जाने के बाद भी इस प्रकार की योजना निर्मित की गई थी कि वह अपने अध्ययनकाल के दौरान अध्ययन किए गए वेद और विद्या का विस्मरण न करने पाए, वह इन्हें वर्षा ऋतु में दुहराता रहे। समस्त स्नातक उन चार महीनों में वेदों का पूर्वावाचन, जैसे- नित्य प्रति पंचमहायज्ञ-ऋषियज्ञ, देवयज्ञ, भूतयज्ञ, नृयज्ञ और पितृयज्ञ, स्वाध्याय आदि किया करते थे।

"अतः अध्यापयतः अपि निरग्नेः साग्नेः अपि अनध्यापयतः उपकर्मणि नाधिकारः" [10]

उक्त वर्णित सूत्र से उपाकर्म का स्वरूप स्पष्ट हो जाता है। उपाकर्म संस्कार की यह प्रक्रिया, शिक्षण संस्था द्वारा संस्था का वार्षिक अधिवेशन के प्रारंभ होने के समय की जाती थी।

यह उपाकर्म संस्कार वर्षा ऋतु (श्रावण मास) आरंभ में ही किया जाता है, जिससे स्नातक प्रतिवर्ष चार मास एवं उसके उपरांत भी अध्ययन कार्य में संलग्न रह सके। संभवतः उक्त आधार पर ही भारत के विद्यालयों में जुलाई मास से शिक्षण कार्य आरंभ किया जाता है। श्रावण के महीने में उपाकर्म करने का ज्योतिषीय कारण यह भी है कि श्रावण के महीने में हस्त नक्षत्र के देवता सविता हैं तथा वेदों के सर्वश्रेष्ठ देवता गायत्री मंत्र के देवता भी सविता ही हैं। अतः इसे श्रावण शुक्ल पंचमी को उपाकर्म संस्कार हेतु योग्य माना गया है।

ऋग्वेद के विद्यार्थी उपाकर्म में ऋग्वेद की ऋचा कहकर, यजुर्वेद के उपासक याज्ञिक व संहिता के देवता को, इसी तरह सामवेद, अथर्ववेद एवं पंचमवेद अर्थात इतिहास-पुराणों का हविर्भाग समर्पित करते थे। इसके पश्चात तैत्तिरीय, आत्रेय, कौण्डिल्य, बोधायन, जैमिनी आदि ग्रंथकारों को अपनी शिक्षा के अनुरूप हविर्भाग अर्पित किया जाता था। यह उन श्रेष्ठ ग्रंथकारों के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करने का उदात्त एवं श्रेष्ठ भाव था। उपाकर्म संस्कार पूर्ण होने के पश्चात ही गुरु व शिष्य एकांतिक निष्ठा से अध्ययन प्रारंभ करते थे।

उत्सर्जन संस्कार– उपाकर्म के पश्चात, विद्यार्थी द्वारा अध्ययन उपरांत शिक्षण संस्था के वार्षिक अधिवेशन की समाप्ति पर उपाकर्म की विधि की तरह ही उत्सर्जन संस्कार किया जाता था। अधिवेशन के प्रारंभ में जिस प्रकार देवी-देवताओं का स्मरण किया जाता था, उसी प्रकार उत्सर्जन संस्कार अधिवेशन की समाप्ति पर भी किया जाता था। इस उत्सर्जन संस्कार में वेदानुकूल देवता एवं ऋषियों को हविर्भाग प्रदान किया जाता था।

समावर्तन संस्कार– "योऽधीत्य ह्यहन्तेतांस्त्रीणि वर्षाण्यतन्द्रितः"[11] के अनुसार स्नातक की अध्ययन अवधि तीन वर्ष रही होगी, संभवतः इसी कारण वर्तमान काल में भी स्नातक की अवधि यही रखी गई है। वेदाध्ययन समाप्त कर, समस्त शिक्षाओं में प्रवीण होने के पश्चात घर जाने के लिए उद्यत शिष्य को समावर्तन संस्कार द्वारा विदाई दी जाती थी। वैदिक काल में भी उन्हीं विद्यार्थियों का समावर्तन संस्कार किया जाता था, जिन्होंने वेदाध्ययन पूर्ण कर लिया होता था।

समावर्तन के दिन, दोपहर तक ब्रह्मचारी को एक कक्ष में ही रखा जाता था। दोपहर होने पर ही उसे बाहर लाया जाता था। इसका कारण यह माना जाता था कि प्रातः एवं संध्या को सूर्य का तेज मंद रहता है, जबकि ब्रह्मचारी विद्या से प्रकाशित होने के कारण अधिक तेजस्वी होता था। ऐसी मान्यता के कारण उक्त समय में उसे कक्ष में रखा जाता था, जिससे सविता देव का अपमान न होने पाए। कक्ष से बाहर आने के उपरांत मुखमार्जन आदि से निवृत्त होकर ब्रह्मचारी मेखला, दंड आदि प्रतीक-चिन्हों का त्याग करता था। उसे सुगंधित जल से स्नान कराया जाता था। इसके पश्चात गुरु उसे नवीन वस्त्र, अलंकार, जूते एवं छतरी आदि प्रदान करता था। तत्पश्चात अग्नि में आहुति प्रदान करने के उपरांत उसे पंडित-परिषद् में ले जाकर परिचय कराया जाता था। गुरु को दक्षिणा प्रदान करने हेतु लिखा गया है कि-

न पूर्वं गुरवे किंचिदुपकुर्वीत धर्मवित्।

स्नास्यंस्तु गुरुणाऽज्ञातः शक्त्या गुर्वर्थमाहरेत्।। [12]

अर्थात धर्मज्ञाता शिष्य, समावर्तन संस्कार के पूर्व कुछ भी दक्षिणा न दे। समावर्तन संस्कार के उपरांत शिष्य यथा-शक्ति गुरु को दक्षिणा प्रदान करता था। इस प्रकार समावर्तन की विधि पूर्ण हो जाती थी।

दीक्षांत उपदेश - बटुक के स्नातक होने की संपूर्ण प्रक्रिया के पूर्ण होने के उपरांत, सामाजिक एवं राष्ट्र जीवन के घटक के रुप में स्थापित होने वाले विद्यार्थी को वैदिक आचार्य जो उपदेश दिया करते थे, वह मानस-पटल पर अंकित होने योग्य है। वह दीक्षांत उपदेश निम्न है- "वेदमनूच्याचार्योऽन्तेवासिनमनुशास्ति। सत्यं वद। धर्मं चर। स्वाध्यायान्मा प्रमदः। आचार्याय प्रियं धनमाहृत्य प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः। सत्यान्न प्रमदितव्यम्। कुशलान्न प्रमदितव्यम्। भूत्यै न प्रमदितव्यम्। स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम्। देवपितृकार्याभ्यां न प्रमदितव्यम्। मातृदेवो भव। पितृदेवो भव। आचार्यदेवो भव। अतिथिदेवो भव। यान्यनवद्यानि कर्माणि तानि सेवितव्यानि नो इतराणि। यान्यस्माकं सुचरितानि तानि त्वयोपास्यानि नो इतराणि। ये के चास्मच्छ्रेयांसो ब्राह्मणास्तेषां त्वयासनेन प्रश्वसितव्यम्। श्रद्धया देयम्। अश्रद्धयाऽदेयम्। श्रिया देयम्। भिया देयम्। संविदा देयम्। अथ यदि ते कर्मविचिकित्सा वा स्यात् ये तत्र ब्राह्मणाः संमर्शिनः युक्ता आयुक्ता अलूक्षा धर्मकामाः स्युः यथा ते तत्र वर्तेरन् तथा तत्र वर्तेथाः।।" [13]

अर्थात, सदा सत्य बोलना तथा अपने कर्तव्य को पहचानते हुए धर्मानुसार व्यवहार करना। विद्या को प्रमाद के कारण नहीं भूलना। आचार्यों को उनकी इच्छा अनुसार गुरु-दक्षिणा देकर गृहस्थाश्रम स्वीकार करना। संतान-रुपी सूत्र को तोड़ने का कारण न बनना। प्रमाद के कारण सत्य को भूल न जाना तथा धर्म की ओर दुर्लक्ष न करना। अपने भौतिक कल्याण एवं उसे साध्य कराने वाली बातों की उपेक्षा न करना। अपने कल्याण-मार्ग से विचलित न होना। किए हुए अध्ययन का पुनः पठन करते हुए उसे ज्वलंत रखना तथा अधिक अध्ययन करना। देव-कार्य एवं पितृ-कार्य को कभी टालना मत। मातृदेव, पितृदेव, आचार्यदेव तथा अतिथिदेव भाव रखना। जो श्रेष्ठ पुरुष हैं, उनके निर्दिष्ट एवं अच्छे कर्मों

का अनुकरण करना, उनकी बुरी बातों के पीछे न जाना। श्रद्धा-पूर्वक दान देना, अश्रद्धा से नहीं। क्षमता के अनुसार दान देना, विनय-पूर्वक देना तथा धर्म और ईश्वर का भय मन में रखना।

निष्कर्ष

शिक्षा-शास्त्रियों की दृष्टि में, प्राचीन भारतीय शिक्षा प्रदान करने हेतु निम्न विधियाँ प्रयुक्त होती थीं। [14] अनुकरण, आवृत्ति एवं कण्ठस्थ विधि, व्याख्या एवं दृष्टांत विधि, कथन-प्रदर्शन एवं अभ्यास विधि, शास्त्रार्थ विधि, श्रवण, मनन, निदिध्यासन विधि, तर्क विधि। वैदिक काल में स्त्रियों को भी वैदिक साहित्य के अध्ययन का अधिकार प्राप्त था। जीवन के व्यावहारिक क्षेत्र में स्त्री-शरीर एवं स्वभाव को दृष्टिगत रखते हुए, उनके लिये शिक्षा एवं संस्कारों की योजना निर्मित की गई थी। वैदिक काल में शिक्षा आर्थिक रूप से विपन्न को भी उतनी ही सहजता से उपलब्ध थी जितनी संपन्न को। वैदिक काल में शिष्य को संस्था के नियम-उपनियमों एवं परंपराओं का पालन करना अनिवार्य था। गुरु-शिष्य संबंध सर्वोपरि थे। समाज का दायित्व था कि वह शिक्षा हेतु आवश्यक धन-अर्थ गुरुकुल को उपलब्ध कराए। विद्यार्थी की रुचि के अनुरूप वेद-अध्ययन कराया जाता था। गुरुकुल में राजा भी गुरु की अनुमति के बिना आश्रम में प्रवेश नहीं कर सकता था। गुरु को राजा के दरबार में उपस्थित नहीं होना पड़ता था, अपितु राजा स्वयं उपस्थित होता था। शिक्षण पद्धति का मूल तत्व था चारित्रिक शीलता एवं चिंतक तैयार करना, जो स्वावलंबी, स्वाभिमानी होते हुए राष्ट्र निर्माण में योगदान दे। असत्य वचन एवं कलुषित आचरण सर्वथा निषिद्ध था। शिक्षार्थी के लिए कठोर दंड का प्रावधान नहीं था; यदि था भी तो वह ठंडे जल से स्नान जैसे साधारण दंड थे। नियमित दिनचर्या एवं अनुशासन का पालन अनिवार्य था। एक वर्ष तक गुरुकुल से अनुपस्थित रहने पर वह आगे शिक्षण का भागीदार नहीं हो सकता था। गुरुमाता शिष्य से पुत्रवत स्नेह रखती थीं। शिक्षा में यज्ञ, हवन आदि विधियों को सम्मिलित किया गया था, फलस्वरूप विद्यार्थी धर्म-कार्य से विरत नहीं होते थे। ब्रह्मचारी को स्वयं के लिए भिक्षा माँगना अनिवार्य था। वैदिक काल में शास्त्र के साथ-साथ व्यवसाय का भी प्रशिक्षण दिया जाता था। विद्वान शिक्षकों को समाज में अत्यंत उच्च स्थान प्राप्त था।

राष्ट्र जीवन में प्रवेश करते समय वैदिक भारत के विद्यार्थी का जीवन किस प्रकार आलोकित रहता होगा, यह उक्त अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है। गुरु और शिष्य के समुच्चय से ही वैदिक कालीन सबल, समृद्ध, गौरवशाली, प्रकृति-नियंत्रित एवं संचालित विकसित भारत का निर्माण हुआ, जिसके मूल में वैदिक कालीन शिक्षण पद्धति थी। यह सुस्थापित हो जाता है कि वैदिक भारतीय दृष्टा सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक क्षेत्र की तुलना में विद्या एवं विद्यार्जन को सर्वोच्च मानते थे।

सहस्रद्वयवर्षेभ्य राष्ट्रमस्मद्विदारितम्।

अद्याप्यस्ति यथापूर्वं तत्सर्वं वेदकारणात्।। [15]

अर्थात, दो हजार वर्षों से हमारे देश में विखंडन होता रहा, किंतु देश का स्वरूप आज भी पूर्ववत् है, जिसका कारण वैदिक कालीन शिक्षा एवं राजधर्म का बीज रूप में विद्यमान होना है।

संदर्भ ग्रंथ

1. मनुस्मृति 2-118
2. अथर्ववेद काण्ड 11, सूक्त 1-2-3
3. वैदिक राष्ट्र दर्शन– महामहोपाध्याय बालशास्त्री हरदास, सुरुचि प्रकाशन, नई दिल्ली, वर्ष 2000, पृष्ठ-80

4. वैदिक राष्ट्र दर्शन– महामहोपाध्याय बालशास्त्री हरदास, सुरुचि प्रकाशन, नई दिल्ली, वर्ष 2000, पृष्ठ-81
5. ऋग्वेद 3, 62, 1
6. मनुस्मृति, अध्याय-2-38
7. मनुस्मृति, अध्याय-2-46
8. मनुस्मृति, अध्याय-2-173
9. मनुस्मृति, अध्याय-2-50
10. पारस्कर गृहसूत्र– पृष्ठ-28
11. मनुस्मृति, अध्याय-2-82
12. मनुस्मृति, अध्याय-2-182
13. तैत्तिरीय उपनिषद्– शिक्षा अध्याय
14. डॉ. वीरेन्द्र कुमार, यूनिवर्स जर्नल ऑफ एजुकेशन एण्ड ह्यूमिनिटी, वॉल्यूम-6, अंक-2, अगस्त 2019, पृष्ठ 1-12
15. वेदविज्ञानामृतम्– पद्मशास्त्री, देवनागर प्रकाशन, जयपुर, वर्ष 1989, पृष्ठ-11